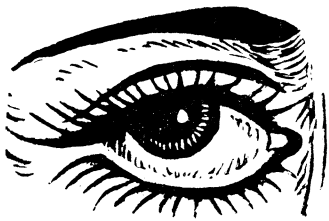

आचार्य श्री की इतिहास-दृष्टि

□ डॉ. भागचन्द जैन भास्कर

प्रज्ञा-पुरुष आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० जैन जगत् के जाज्वल्यमान् नक्षत्र थे, सद्ज्ञान से प्रदीप्त थे, आचरण के धनी थे, सजग साधक थे और थे इतिहास-मनीषी, जिन्होंने 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' लिखकर शोधकों के लिए एक नया आयाम खोला है। इस ग्रन्थ के चार भाग हैं जिनमें से प्रथम दो भाग आचार्य श्री द्वारा लिखे गये हैं और शेष दो भागों में उन्होंने मार्गदर्शक के रूप में कार्य किया है। इनके अतिरिक्त 'पट्टावली प्रबन्ध संग्रह' और 'आचार्य चरितावली' भी उनकी कुशल इतिहास-दृष्टि के साक्ष्य ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों का निष्पक्ष मूल्यांकन कर हम उनकी प्रतिभा का दर्शन कर सकेंगे।

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम खण्ड

सं. २०२२ के बालोतरा चातुर्मास के निश्चयानुसार आचार्य श्री सामग्री के संकलन में जुट गये। उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए श्री गजसिंह राठौड़ का विशेष सहयोग रहा। सं. २०२३ के चातुर्मास (अहमदाबाद) में प्रथम खण्ड का लेखन कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ। इसमें चौबीस तीर्थङ्करों तक का इतिहास समाहित है।

जैन धर्म का आदिकाल इस अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थङ्करों में आदिनाथ ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। इसके लेखन में लेखक ने आगम ग्रन्थों के साथ ही जिनदासगणि महत्तर (ई. ६००–६५०), अगस्त्यसिंह (वि. की तृतीय शताब्दी), संघदास गणि (ई. ६०९), जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण (वि. सं. ६४५), विमल सूरि (वि. सं. ६०), यति वृषभ (ई. चतुर्थ शती), जिनसेन (ई. ९वीं शती), गुणभद्र, रविषेण (छठी शती), शीलांक (नवीं शती), पुष्पदन्त (नवीं शती), भद्रेश्वर (११वीं शती), हेमचन्द्र (१३वीं शती), धर्म सागर गणि (१७वीं शती) आदि के ग्रन्थों को भी आधार बनाया। उन्होंने प्रथमानुयोग को धार्मिक इतिहास का प्राचीनतम शास्त्र माना है और जैन इतिहास को पूर्वाचार्यों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की अविरल परम्परा से प्राप्त प्रामाणिक इतिवृत्त के रूप में स्वीकार किया है। अपने समर्थन में 'पउमचरियम्' की एक गाथा को भी प्रस्तुत किया है जिसमें पूर्व ग्रंथों के अर्थ की हानि को काल का प्रभाव बताया गया है।[1] यही बात आचार्य श्री ने द्वितीय खण्ड के प्राक्कथन में लिखी है—"इस प्रकार केवल इस प्रकरण में ही नहीं, आलेख्यमान संपूर्ण ग्रन्थमाला में शास्त्रीय उल्लेखों, अभिमतों अथवा मान्यताओं को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने के साथ-साथ आवश्यक स्थलों पर उनकी पुष्टि में प्रामाणिक आधार एवं न्यायसंगत, बुद्धिसंगत युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।[2] मतभेद के स्थलों में शास्त्र सम्मत मत को ही प्रमुख स्थान दिया गया है (पृ. २६)।

यह बात सही है कि पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिक, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ही प्राचीन आर्यों का इतिहास शास्त्र था।[3] परन्तु विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि को उसमें खोजना उपयुक्त नहीं होगा। जब तक धर्मशास्त्र परम्परा पुरातात्त्विक प्रमाणों से अनुमत नहीं होती, उसे पूर्णतः स्वीकार करने में हिचकिचाहट हो सकती है। तीर्थङ्करों के महाप्रातिहार्य जैसे तत्त्व विशुद्ध इतिहास की परिधि में नहीं रखे जा सकते।

तीर्थंकरों में 'नाथ' शब्द की प्राचीनता के संदर्भ में आचार्य श्री ने 'भगवती सूत्र' का उदाहरण 'लोगनाहेणं', 'लोगनाहाणं' देकर यह सिद्ध किया है कि 'नाथ' शब्द जैनों का अपना है। नाथ संप्रदाय ने उसे जैनों से ही लिया है। यतिवृषभ (चतुर्थ शती) ने 'तिलोयपण्णत्ति' में संतिणाह, अणंतणाह आदि शब्दों का प्रयोग किया है (४-५४१/५९९)।

जैन परम्परा के कुलकर और वैदिक परम्परा के मनु की संख्या समान मिलती है। 'स्थानांग' और 'मनुस्मृति' में सात, महापुराण (३/२२९-२३२) और 'मत्स्यपुराण' (९वां अध्याय) आदि में चौदह और 'जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति' में ऋषभ को जोड़कर १५ कुलकर बताये गये हैं। तुलनार्थ यह विषय द्रष्टव्य है।

तीर्थंकरत्व प्राप्ति के लिए 'आवश्यक निर्युक्ति' के अनुसार बीस कारण (१७६-१७८, ज्ञाताधर्मकथा ८) और 'तत्त्वार्थ सूत्र' (६.२३) या 'आदिपुराण'

---

१. एवं परंपराए परिहाणि पुव्वगंथ अत्थाणं।
नाऊण काकभावं न रुसियव्वं बुहजणेणं।। पउमचरियम्
जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम खण्ड, अपनी बात, पृ. १०

२. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, द्वि. खं, प्राक्कथन, पृ. २६

३. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतिहासः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार षोडश कारण हैं जो लगभग समान हैं (पृ. १०), श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा में मान्य ३४ अतिशयों की तुलना, संकोच, विस्तार और सामान्य दृष्टिभेद की चर्चा हुई है (पृ. ३८), समवशरण की व्याख्या (पृ. ४१-४३) बड़ी युक्तिसंगत हुई है। 'आवश्यक निर्युक्ति' (गाथा ३५१-५८) का उद्धरण देकर आचार्य श्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परिव्राजक परम्परा सम्राट भरत के पुत्र मरीचि से शुरू हुई है जो सुकुमार होने के कारण परीषह सहन नहीं कर सका और त्रिदण्ड, क्षुर-मुण्डन, चन्दनादि का लेप, छत्र, खड़ाऊं, कषायवस्त्र, स्नान-पानादि का उपयोग विहित बता दिया। कहा जाता है यही मरीचि बाद में तीर्थंकर महावीर हुआ (पृ. ४६-४७)। परिव्राजक परम्परा की उत्पत्ति का यह वर्णन कहाँ तक सही है, नहीं कहा जा सकता, पर इतना अवश्य है कि परिव्राजक संस्था बहुत पुरानी है। उत्तरकाल में यह शब्द विशेषण के रूप में श्रमण भिक्षु के साथ भी जुड़ गया। 'महापुराण' (१८-६२.४०३) में मरीचि के शिष्य कपिल को परिव्राजक परम्परा का प्रथम आचार्य माना गया है। बाद में यहाँ ऋषभदेव को जैनेतर परम्पराओं में क्या स्थान मिला है, इसका भी आकलन किया गया है।

ऋषभदेव के वैशाख शुक्ला तृतीया को वर्षी-तप का पारणा किये जाने के उपलक्ष्य में 'अक्षय तृतीया' पर्व का प्रचलन, व्यवहारतः उसे संवत्सर तप की संज्ञा का दिया जाना, ब्राह्मी और सुन्दरी को बालब्रह्मचारिणी कहे जाने पर उसे 'दत्ता' शब्द का सम्यक् अर्थ बताकर युक्तिसंगत सिद्ध करना, सनत्कुमार चक्रवर्ती को तद्भवमोक्षगामी मानने वाली परम्परा को मान्यता देना, आदि जैसे विषयों से संबद्ध प्रश्नों को सयुक्तिक समाधान देना आचार्य श्री की प्रतिभा का ही फल है।

तीर्थंकर ऋषभदेव से सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) और शान्तिनाथ से महावीर तक के आठ, इन कुल १६ अन्तरों में संघ रूप तीर्थ का विच्छेद नहीं हुआ। परन्तु सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के सात अन्तरों में धर्मतीर्थ का विच्छेद हो गया। आचार्य श्री का अभिमत है कि यह समय राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष के कारण जैन धर्म के लिए अनुकूल नहीं रहा हो। यह भी माना जाता है कि ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के अन्तर में 'दृष्टिवाद' को छोड़कर ग्यारह अंग शास्त्र विद्यमान रहते हैं पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के अन्तरकाल में बारहों ही अंगशास्त्रों का पूर्ण विच्छेद हो जाता है। शान्तिनाथ से महावीर के पूर्व तक भी 'दृष्टिवाद' का ही विच्छेद होता है, अन्य ग्यारह अंग-शास्त्रों का नहीं। (प्रवचन सारोद्धार, द्वार ३६)। (पृ. १४)।

तीर्थंकर अजितनाथ से नमिनाथ तक के तीर्थंकरों की जीवन-घटनाओं का वर्णन अधिक नहीं मिलता। पर उनके पूर्वभव, देवगति का आयुकाल, च्यवन,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जन्म, जन्मकाल, राज्याभिषेक, विवाह, वर्षीदान, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान, तीर्थस्थापना, गणधर, प्रमुख आर्या, साधु-साध्वी आदि का परिवार मान आदि पर जो भी सामग्री मिलती है वह साधारणतः दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं में समान है। जो कुछ भी थोड़ा-बहुत मतभेद है वह श्रुतिभेद और स्मरणभेद के कारण है। (पृ. २२)।

यहाँ वह उल्लेखनीय है कि इन तीर्थंकरों के जीवन-प्रसंगों में जो भी व्यक्ति नामों का उल्लेख मिलता है उसका सम्बन्ध ज्ञात/उपलब्ध ऐतिहासिक राजाओं से दिखाई देता है। सम्भव है उन्हीं के आधार पर सूत्रों, निर्युक्तियों और पुराणों में उन नामों को जोड़ दिया गया हो। इसलिए उनकी ऐतिहासिकता पर लगा प्रश्नचिह्न निरर्थक नहीं दिखाई देता।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि का सम्बन्ध हरिवंश और यदुवंश से रहा है। इसी काल में कौरव और पाण्डव तथा श्री कृष्ण वगैरह महापुरुष हुए। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और वासुदेव लक्ष्मण, तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय हुए। प्रसिद्ध ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल में हुआ। वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराओं में इसका लगभग समान रूप से वर्णन मिलता है। जैन परम्परा में वर्णित अरिष्टनेमि, रथनेमि और दृढ़नेमि ने पालि साहित्य में भी अच्छा स्थान पाया है। अतः इतिहास की परिधि में रहकर इन पर भी विचार किया जाना चाहिए।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ निःसन्देह ऐतिहासिक महापुरुष हैं। पालि साहित्य में उनके शिष्यों और सिद्धान्तों का अच्छा वर्णन मिलता है। आचार्य श्री ने पिप्पलाद, भारद्वाज, नचिकेता, पकुध-कच्चायन, अजितकेशकम्बल, तथागत बुद्ध आदि तत्कालीन दार्शनिकों पर उनके सिद्धान्तों का प्रभाव संभावित बताया है। मैंने भी अपनी पुस्तक 'Jainism in Buddhist Literature' में इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य श्री ने 'निरयावलिका सूत्र' के तृतीय वर्ग के तृतीय अध्ययन में निहित शुक्र महाग्रह के कथानक का उल्लेख करते हुए कहा है कि "सोमिल द्वारा काष्ठमुद्रा मुंह बांधना प्रमाणित करता है कि प्राचीन समय में जैनेतर धार्मिक परम्पराओं में काष्ठमुद्रा से मुख बांधने की परम्परा थी और पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में भी मुख-वस्त्रिका बांधने की परम्परा थी। अन्यथा देव सोमिल को काष्ठ मुद्रा का परित्याग करने का परामर्श अवश्य देता। परन्तु मुख-वस्त्रिका का सम्बन्ध पार्श्वनाथ के समय तक खींचना विचारणीय है। राजशेखर के षड्दर्शन प्रकरण से तत्सम्बन्धी उद्धरण

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को प्रस्तुत कर अपने विचार की पुष्टि करना कालक्रम की दृष्टि से विचारणीय है।

तीर्थंकर महावीर का नयसार का जीव ब्राह्मणपत्नी देवानन्दा की कुक्षि में पहुँचा। हरिणगमेषी ने गर्भापहार कर उसे क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में पहुँचाया। गर्भापहार का यह प्रसंग 'स्थानांगसूत्र' में दस आश्चर्यों में गिना गया है। इसे इतिहास की कोटि में गिना जाये क्या, यह प्रश्न अभी भी हमारे सामने है।

गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या के कारण श्रमण महावीर को रक्तातिसार की बाधा आई जो रेवती के घर से प्राप्त बिजोरापाक के सेवन से दूर हो गई। इस प्रसंग में 'भगवती सूत्र' (शतक १५, उद्देश १) में आये 'कवोयसरीर' और 'मज्जारकडए कुक्कुडमंसए' शब्दों का अर्थ विवादास्पद रहा है जिसे आचार्य श्री ने आचार्य अभयदेव सूरि और दानशेखर सूरि की टीकाओं के आधार पर क्रमशः कूष्मांडफल और मार्जार नामक वायु की निवृत्ति के लिए बिजोरा अर्थ किया है (पृ. ४२७)। इस प्रसंग में 'आचारांग' का द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्मरणीय है जिसमें उद्देशक ४, सूत्र क्र. १, २४, ४६, उद्देशक १०, सूत्र ५८ में इस विषय पर चर्चा हुई है। इसी तरह दशवैकालिक सूत्र ५–१–७५–८१, निशीथ उद्देशक ६, सूत्र ७९, उपासक दशांग (१–८) भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं। वृत्तिकार शीलांक ने लूता आदि रोगोपचार के लिए अपवाद के रूप में लगता है, इसे विहित माना है। परन्तु जैनाचार की दृष्टि से किसी भी स्थिति में मांस भक्षण विहित नहीं माना जा सकता।

आचार्य श्री ने अचेल शब्द का अर्थ आगमिक टीकाकारों के आधार पर अल्प मूल्य वाले जीर्णशीर्ण वस्त्र किया है (पृ. ४८७–८८) और सान्तोत्तर धर्म को महामूल्यवान वस्त्र धारण करने वाला बताया है। इसी तरह कुमार शब्द का अर्थ भी युवराज कहकर विवाहित किया है। पर दिगम्बर परम्परा में कुमार का अर्थ कुमार अवस्था में दीक्षा धारण करने से है।

इस खण्ड में 'तीर्थंकर परिचय पत्र' के नाम से परिशिष्ट १ में तीर्थंकरों के माता-पिता नाम, जन्मभूमि, च्यवन तिथि, च्यवन नक्षत्र, च्यवन स्थल, जन्म तिथि, जन्म नक्षत्र, वर्ण, लक्षण, शरीरमान, कौमार्य जीवन, राज्य काल, दीक्षा-तिथि, दीक्षा नक्षत्र, दीक्षा साथी, प्रथम तप, प्रथम पारणा दाता, प्रथम पारणा-स्थल, छद्मस्थकाल, केवलज्ञान तिथि, केवलज्ञान नक्षत्र, केवलज्ञान स्थल, चैत्यवृक्ष, गणधर, प्रथम शिष्य, प्रथम शिष्या, साधु संख्या, साध्वी संख्या, श्रावक संख्या, श्राविका संख्या, केवलज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, अवधिज्ञानी, वैक्रियक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लब्धिधारी, पूर्वधारी, वादी, साधक जीवन, आयु प्रमाण, माता-पिता की गति, निर्वाण तप, निर्वाण तिथि, निर्वाण नक्षत्र, निर्वाण स्थल, निर्वाण साथी, पूर्वभव नाम, अन्तराल काल आदि विषयों पर दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर अच्छे ज्ञानवर्धक चार्ट प्रस्तुत किये हैं।

यह खण्ड विशुद्ध परम्परा का इतिहास प्रस्तुत करता है और यथास्थान दिगम्बर परम्परा को भी साथ में लेकर चलता है। शैली सुस्पष्ट और साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर है।

द्वितीय खण्ड

इस खण्ड को आचार्य श्री ने केवलिकाल, श्रुतकेवलिकाल, दशपूर्वधरकाल, सामान्यपूर्वधरकाल, में विभाजित कर वीर नि. सं. से १००० तक की अवधि में हुए प्रभावक आचार्यों और श्रावक-श्राविकाओं का सुन्दर ढंग से जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है और साथ ही तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों और सांस्कृतिक परम्पराओं का भी आकलन किया है।

केवलिकाल :

वीर निर्वाण सं. १ ने ६४ तक का काल केवलिकाल कहा जाता है। महावीर निर्वाण के पश्चात् दिगम्बर परम्परानुसार केवलिकाल ६२ वर्ष का है– गौतम गणधर १२ वर्ष, सुधर्मा (लोहार्य) ११ वर्ष तथा जम्बू स्वामी ३९ वर्ष। परन्तु श्वे. परम्परानुसार यह काल कुल ६४ वर्ष का था—१२+८+४४। इनमें इन्द्रभूति गौतम का जीवन अल्पकालिक होने के कारण सुधर्मा स्वामी प्रथम पट्टधर थे। इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर शेष ९ गणधरों का निर्वाण महावीर के सामने ही हो चुका था। आचार्य श्री ने सुधर्मा को पट्टधर होने में दो और कारण दिये। पहला यह कि वे १४ पूर्व के ज्ञाता थे, केवली नहीं जबकि गौतम केवली थे। दूसरा कारण यह कि केवली किसी के पट्टधर या उत्तराधिकारी नहीं होते क्योंकि वे आत्मज्ञान के स्वयं पूर्ण अधिकारी होते हैं। तीर्थंकर महावीर ने निर्वाण के समय सुधर्मा को तीर्थाधिप बनाया और गौतम को गणाधिप मध्यमपावा में। (गणहरसत्तरी २, पृ. ६२)। सम्पूर्ण द्वादशांग तदनुसार सुधर्मा स्वामी से उपलब्ध माना जाता है। यद्यपि उसमें शब्दतः योगदान सभी ग्यारह गणधरों का ही रहा है। जम्बू स्वामी ४४ वर्ष तक पट्टधर रहे।

द्वादशांगों में 'आचारांग' का 'महापरिज्ञा' नामक सातवें अध्ययन का लोप आचार्य श्री की दृष्टि में नैमित्तिक भद्रबाहु (वि. सं. ५६२) के बाद हुआ। उसमें शायद मंत्रविद्याओं का समावेश था जो साधारण साधक के लिए वर्जनीय

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

था (पृ. ८७) यहाँ आचाय श्री ने यह मत भी स्थायित करने का प्रयत्न किया है कि 'आचारांग' का द्वितीय श्रुत स्कन्ध 'आचारांग' का ही अभिन्न अंग है। वह न 'आचारांग' का परिशिष्ट है और न पश्चाद्वर्ती काल में जोड़ा गया भाग है (पृ. ९२)। आगे उन्होंने कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि 'निशीथ' को 'आचारांग' की पांचवीं चूला मानने और उसके पश्चात् उसे 'आचारांग' से पृथक् किया जाकर स्वतन्त्र छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने की मान्यता के कारण पदसंख्या विषयक मतभेद और उसके फलस्वरूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध को 'आचारांग' से भिन्न उसका परिशिष्ट अथवा आचाराग्र मानने की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ (पृ. ९६)। इस कथन को लेखक ने काफी गंभीरतापूर्वक सिद्ध किया है।

श्रुतकेवली काल :

श्वे. परंपरानुसार श्रुतकेवली काल वी. नि. सं. ६४ से वी.नि.सं. १७० तक माना गया है। इस १०६ वर्ष की अवधि में ५ श्रुतकेवली हुए—प्रभवस्वामी (११ वर्ष), शय्यंभव (२३ वर्ष), यशोभद्र (५० वर्ष), संभूतिविजय (८ वर्ष) और भद्रबाहु (१४ वर्ष)। दि. परंपरा इनके स्थान पर क्रमश: विष्णुकुमार-नंदि (१४ वर्ष) नन्दिमित्र (१६ वर्ष), अपराजित (२२ वर्ष), गोवर्धन (१९ वर्ष) और भद्रबाहु (२९ वर्ष)। कुल काल १०० वर्ष था। विष्णुनन्दि के विषय में आचार्य श्री का कहना है कि दिगम्बर परम्परा में उनका विस्तार से कोई परिचय नहीं मिलता। श्वे. परम्परा में उनका नामोल्लेख भी नहीं है (पृ. ३१६)। शय्यंभव द्वारा रचित 'दशवैकालिक' सूत्र उपलब्ध है।

इन पाँचों श्रुतकेवलियों में भद्रबाहु ही ऐसे श्रुतकेवली हैं जो दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य हैं। परन्तु उनकी जीवनी के विषय में मतभेद हैं। आचार्य श्री ने दोनों परंपराओं की विविध मान्यताओं का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहा कि वी. नि. सं. १५६ से १७० तक आचार्य पद पर रहे हुए छेद-सूत्रकार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को और वी. नि. सं. १०३२ (शक सं. ४२७) के आसपास विद्यमान वराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु को एक ही व्यक्ति मानने का भ्रम रहा है जो सही नहीं है। इसी तरह श्रुतकेवली भद्रबाहु को निर्युक्तिकार नहीं माना जा सकता (पृ. ३५९)। निर्युक्तिकार भद्रबाहु नैमित्तिक भद्रबाहु थे, वराहमिहिर के सहोदर 'तित्थोगालिपइन्ना' 'आवश्यक चूर्णि', 'आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति' और आचार्य हेमचन्द्र का 'परिशिष्ट पर्व' इन प्राचीन श्वे. परंपरा के ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर थे, उनके समय द्वादश वार्षिक दुष्काल पड़ा, वे लगभग १२ वर्ष तक नेपाल प्रदेश में रहे जहाँ उन्होंने महाप्राण-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान की साधना की, उसी समय उनकी अनुपस्थिति में आगमों की वाचना वी. नि. सं. १६० के आसपास पाटलिपुत्र नगर में हुई, उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्वों का सार्थ और शेष पूर्वों का केवल मूल वाचन दिया, उन्होंने चार छेद सूत्रों की रचना की (पृ. ३७७)।

दशपूर्वधर काल :

वी. नि. सं. १७० में श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के बाद दशपूर्वधरों के काल का प्रारम्भ होता है। श्वे. परंपरा वी. नि. सं. १७० से ५८४ तक कुल मिलाकर ४१४ वर्ष का और दि. परंपरा वी. नि. सं. १६२ से ३४५ तक कुल मिलाकर १८३ वर्ष का दशपूर्वधर काल मानती है।

आर्य स्थूलभद्र गौतम गोत्रीय ब्राह्मण नंद साम्राज्य के महामात्य शकटाल के पुत्र थे। वररुचि भी इसी समय का प्रकाण्ड विद्वान था। नन्दवंश का अभ्युदय और अन्त तथा मौर्यवंश का अभ्युदय भी इसी काल में हुआ। सिकन्दर, चन्द्रगुप्त और चाणक्य से सम्बद्ध घटनाओं का भी यही काल था। आचार्य श्री ने अनेक प्रमाण देकर चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक काल वी. नि. सं. २१५ अर्थात् ई. पू. ३१२ निश्चित किया है। आर्य महागिरि के समय सम्राट बिन्दुसार और आर्य सुहस्ति के समय सम्राट अशोक और सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली आर्य सुहस्ती से सम्बद्ध रही है। आर्य बलिस्सह के समय कलिंग, खारवेल और पुष्पमित्र शुंग का राज्य था। आर्य समुद्र के समय कालकाचार्य और सिद्धसेन हुए। इसके बाद आर्य वज्रस्वामी और आर्य नागहस्ति हुए। दिगम्बर परंपरा में भी एक बज्रमुनि हुए हैं जो विविध विद्याओं के ज्ञाता और धर्म-प्रभावक थे। वज्रस्वामी और वज्रमुनि एक ही व्यक्तित्व होना चाहिए जिनके स्वर्गारोहण के बाद वी. नि. सं. ६०६ में और दिगम्बर परम्परानुसार वी. नि. सं. ६०६ में दिगम्बर-श्वेताम्बर परंपरा का स्पष्ट भेद प्रारम्भ हुआ (पृ. ५८५)।

सामान्य पूर्वधर काल :

वी. नि. सं. ५८४ से वी. नि. सं. १००० तक सामान्य पूर्वधर काल रहा। आर्यरक्षित के पश्चात् भी पूर्वज्ञान की क्रमशः परि हानि होती रही और वी. नि. सं. १००० तक संपूर्ण रूपेण एक पूर्व का और शेष पूर्वों का आंशिक ज्ञान विद्यमान रहा। आर्यरक्षित सामान्य पूर्वधर आचार्यों में प्रधान हैं। वे अनुयोगों के पृथक्कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं।

आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य वज्रस्वामी तक जैन शासन बिना किसी भेद के चलता रहा। उसे 'निर्ग्रन्थ' के नाम से कहा जाता था। परन्तु वी.नि.सं. ६०६

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में यह स्थिति समाप्त हो गई और दिगम्बर-श्वेताम्बर के नाम से सम्प्रदाय-भेद प्रकट हो गया। दि० परम्परा के अनुसार यह काल वी० नि० सं० ६०६ हो सकता है। आचार्य श्री ने दोनों परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है (पृ० ६१३)।

समग्र कथानकों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भद्रबाहु की परम्परा दि० सम्प्रदाय से और स्थूलभद्र की परम्परा श्वे० सम्प्रदाय से जुड़ी हुई है। अर्धफलक सम्प्रदाय का यहाँ उल्लेख दिखाई नहीं दिया जो मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त शिलापट्ट में अंकित एक जैन साधु की प्रतिकृति में दिखाई देता है। संभव है, श्वे० सम्प्रदाय का यह प्राक्रूप रहा है। इस प्रसंग में 'सान्तरोत्तर' शब्द का भी अर्थ द्रष्टव्य है। शीलांक के शब्दों में जो आवश्यकता होने पर वस्त्र का उपयोग कर लेता है अन्यथा उसे पास रख लेता है। 'उत्तराध्ययन' की टीकाओं में 'सान्तरोत्तर' का अर्थ महामूल्यवान और अपरिमित वस्त्र मिलता है। किन्तु 'आचारांग' सूत्र २०६ में आये 'सन्तरुत्तर' शब्द का अर्थ भी द्रष्टव्य है। वहाँ कहा गया है कि तीन वस्त्रधारी साधुओं का कर्तव्य है कि वे जब शीत ऋतु व्यतीत हो जाये, ग्रीष्म ऋतु आ जाये और वस्त्र यदि जीर्ण न हुए हों तो उन्हें कहीं रख दे अथवा सान्तरोत्तर हो जाये।

'सान्तरोत्तर' के इन अर्थों पर विचार करने पर लगता है, अचेल का अर्थ वस्त्राभाव के स्थान में क्रमशः कुत्सितचेल, अल्पचेल और अमूल्यचेल हो गया है। 'आचारांग' सूत्र १८२ में अचेलक साधु की प्रशंसा तथा अन्य सूत्रों (५-१५०-१५२) में अपरिग्रही होने की आवश्यकता एवं 'ठाणांग' सूत्र १७१ में अचेलावस्था की प्रशंसा के पांच कारण भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं।[1]

धीरे धीरे यापनीय और चैत्यवासी जैसे सम्प्रदायों का उदय हुआ। आचार्य श्री ने इन सम्प्रदायों के इतिहास पर भी यथासम्भव प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि में यापनीय संघ वि० की द्वितीय शताब्दी में दिगम्बर सम्प्रदाय से और चैत्यवासी सम्प्रदाय सामन्तभद्र सूरि के वनवासीगच्छ से वि० सं० ८०० के आसपास अस्तित्व में आया। हरिभद्रसूरि ने चैत्यवासियों की शिथिलता की अच्छी खासी आलोचना की है। यहाँ आचार्यश्री ने दिगम्बर सम्प्रदाय में जाने माने आचार्य समन्तभद्र (द्वितीय शताब्दी) को समन्तभद्र सूरि होने की संभावना व्यक्त की है (पृ० ६३३) जो विचारणीय है।

वाचक वंश परम्परा में हुए आचार्य स्कन्दिल (वी० नि० सं० ८२३) के नेतृत्व में मथुरा में आगमिक वाचना हुई। स्कन्दिल और नागार्जुन (बल्लभी)

१. देखिए लेखक का ग्रन्थ "जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास" पृ० ३७-५६.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम-वाचनाओं के पश्चात् मिल नहीं सके, इस कारण दोनों वाचनाओं में रहे हुए पाठ-भेदों का निर्णय अथवा समन्वय नहीं हो सका (पृ० ६५३)। लगभग १५० वर्ष बाद आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वी० नि० सं० ९८० में बल्लभी में आगमों को लिपिबद्ध कराया। उनके स्वर्गारोहण के बाद पूर्वज्ञान का विच्छेद हो गया। परन्तु दिगम्बर परम्परा में पूर्वज्ञान का विच्छेद अन्तिम दश पूर्वधर धर्मसेन के स्वर्गस्थ होते ही वी० नि० सं० ३४५ में हुआ। दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में यह ६५५ वर्ष का अन्तर विचारणीय है (पृ० ७००)।

आचार्य श्री की समन्वयात्मक दृष्टि में दि० परम्परा में द्वादशांगी की तरह अंगबाह्य आगम भी विच्छिन्न की कोटि में गिने जाते हैं पर अंगबाह्य आगमों की विलुप्ति का कोई लेख देखने में उन्हें नहीं आया। स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि छोटे-बड़े ८४ मतभेदों के अतिरिक्त शेष सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दोनों परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण समान ही मिलता है। उनमें जो अंतर है वह नाम, शैली और क्रम का है। इसी क्रम में उन्होंने यहाँ दिगम्बर परम्परा में मान्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को वी० नि० सं० ८०० से भी पश्चाद्वर्ती बताया है और आर्यश्याम (पन्नवणा सूत्र के रचयिता) को वी० नि० सं० ३३५ से ३७६ के बीच प्रस्थापित किया है। (पृ० ७२३)। यहीं उन्होंने पन्नवणा और षट्खण्डागम की तुलना भी प्रस्तुत की है।

इस भाग की निम्नलिखित विशेषताएँ अब हम इस प्रकार देख सकते हैं—

१. एक हजार वर्ष का राजनीतिक और सामाजिक इतिहास जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में।

२. निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहु नहीं थे, निमित्तज्ञ भद्रबाहु (द्वितीय) थे।

३. अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु दुष्काल के समय दक्षिण की ओर नहीं, नेपाल की ओर गये थे।

४. अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के पास मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त का दीक्षित बताया जाना भ्रमपूर्ण है। छठी शताब्दी में हुए आचार्य भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्ति की दक्षिण विहार की घटना को भूल से इसके साथ जोड़ दिया गया है। श्रवण बेलगोला की पार्श्वनाथ वसति पर प्राप्य शिलालेख इसका प्रमाण है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

५. प्रधानाचार्य, वाचनाचार्य, गणाचार्य की परम्पराओं पर सयुक्तिक प्रकाश डाला गया है।

६. नन्दि स्थविरावली और कल्पसूत्रीया स्थविरावली का आधार लेकर मथुरा के कंकाली टीला में प्राप्त शिलालेखों की सामग्री पर अभिनव प्रकाश।

७. कनिष्क के राज्य के चौथे वर्ष वी० नि० सं० ६०९ से पूर्व की कोई जैनमूर्ति मथुरा के राजकीय संग्रहालय में नहीं है।

८. विशुद्ध परम्परा की वाचनाचार्य, गणाचार्य और युगप्रधानाचार्य की परम्पराओं की क्षीणता चैत्यवासी परम्परा की लोकप्रियता के कारण।

९. चैत्यवासी परम्परा का वर्चस्व और शिथिलाचार से जैनधर्म में संकटों का आना।

१०. मुखवस्त्रिका का ऐतिहासिक उल्लेख।

११. विशुद्ध परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का अभियान प्रारम्भ।

तृतीय खण्ड

तृतीय खण्ड के दोनों भाग भी आगमों में प्रतिपादित जैनधर्म के मूल स्वरूप को ही प्रमुख आधार बनाकर लिखे गये हैं क्योंकि आगमेतर धर्मग्रन्थों में एतद्विषयक एकरूपता के दर्शन दुर्लभ हैं (सम्पादकीय, पृ० १०)। इस खण्ड के लेखन में 'तित्थोगालि पइन्ना, महानिशीथ, सन्दोह दोहावलि, संघपट्टक, आगम अष्टोत्तरी आदि ग्रन्थों तथा शिलालेखों का विशेष उपयोग किया गया है। इस खण्ड में वी० नि० सं० १००१ से १४७५ तक का इतिहास आकलित हुआ है। आचार्यश्री के मार्गदर्शन में श्री गजसिंह राठौड़ ने इस भाग को तैयार किया है। लेखक को इसमें अधिक श्रम करना पड़ा है।

प्रारम्भ में वीरनिर्वाण से देवर्द्धिकाल तक की परम्परा को मूल परम्परा कहकर उसे संक्षिप्त रूप में लेखक ने प्रस्तुत किया है और बाद में उत्तरकालीन धर्मसंघ में चैत्यवासियों के कारण जो विकृतियां आयीं, उनकी विकासात्मक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

भट्टारक परम्परा :

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में भट्टारक परम्परा वी० नि० सं०

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की ११वीं शताब्दी में प्रतिफलित हुई। उसने मध्यम मार्ग को अपनाकर मठ, नसियां, बस्तियां आदि बनाईं, शिक्षण संस्थाएँ शुरू कीं, ग्रन्थरचना की, विधि-विधान, कर्मकाण्ड, मन्त्र-तन्त्र तैयार हुए। फलतः भट्टारक परम्परा की लोक-प्रियता काफी बढ़ गई। इस परम्परा के शिथिलाचार की भर्त्सना आचार्य कुन्दकुन्द ने भी की है जिनका समय आचार्य श्री ने ई० सन् ४७३ अनुमानित किया है।

भट्टारक परम्परा के प्रथम रूप को लेखक के अनुसार दिगम्बर:श्वेताम्बर-यापनीय संघों के श्रमणों के बीच ही वी० नि० सं० ६४० से लेकर ८८० तक देखा जा सकता है। इन भट्टारकों ने भूमिदान, द्रव्यग्रहण आदि परिग्रह रखना प्रारम्भ कर दिया था। दूसरे रूप को नन्दिसंघ की पट्टाबली में खोजा। इस परम्परा के पूर्वाचार्य प्रारम्भ में प्रायः नग्न तदनन्तर अर्ध नग्न और एकवस्त्र-धारी रहते थे। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से सवस्त्र रहने लगे। तीसरे रूप में तो ये आचार्य गृहस्थों से भी अधिक परिग्रही बन गये (पृ० १४३)। राजाओं के समान वे छत्र, चमर, सिंहासन, रथ, शिविका, दास, दासी, भूमि, भवन आदि चल-अचल सम्पत्ति भी रखने लगे। श्वेताम्बर परम्परा में भट्टारक परम्परा को श्रीपूज्य परम्परा अथवा यति परम्परा कहा जाने लगा। इस परम्परा पर यापनीय परम्परा का प्रभाव रहा है। लेखक ने "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक पाण्डुलिपि के आधार पर अपना विवरण प्रस्तुत किया है।

यापनीय संघ की उत्पत्ति दिगम्बर आचार्य श्वेताम्बर परम्परा से और श्वे० आचार्य दिग० परम्परा से मानते हैं। यह संघ भेद वी० नि० सं० ६०६ में हुआ। उनकी विभिन्न मान्यताओं का भी उल्लेख लेखक ने किया है। अप्रतिहत विहार को छोड़कर नियतनिवास, मन्दिर-निर्माण, चरणपूजा आदि शुरू हुए। इस प्रसंग में अनेक नये तथ्यों का उल्लेख यहाँ मिलता है।

लेखक ने इन सभी परम्पराओं को द्रव्य-परम्परा कहा है जो मूल (भाव) परम्परा के स्थान पर प्रस्थापित हुई हैं। भावपरम्परा के पुनः संस्थापित करने के लिए अनेक मुमुक्षुओं ने प्रयत्न किया। 'महानिशीथ' सूत्र ने इन दोनों परम्पराओं का समन्वय किया है। आचार्य हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी-जिनदासगणिमहत्तर, नेमिचंद्र, सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि आचार्यों ने समन्वय पद्धति का जो प्रयास किया, उसका विशेष परिणाम नहीं आया। फलस्वरूप उन विधि-विधानों को सुविहित परम्परा के गण-गच्छों ने तो अपना लिया परन्तु द्रव्य परम्पराओं ने समन्वय की दृष्टि से 'महानिशीथ' में स्वीकृत भाव परम्परा द्वारा निहित श्रमणाचार को नहीं अपनाया।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आगमानुसार श्रमण-वेष-धर्म-आचार की चर्चा करते हुए लेखक ने 'आचारांग' सूत्र, 'प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' के आधार पर यह सिद्ध किया है कि मुखवस्त्रिका, वस्त्र-पात्र आदि धर्मोपकरणों का प्रमुख स्थान था। दूसरी परम्परा सवस्त्र अवस्था में मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार नहीं करती थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'आचारांग' के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी आचार्य श्री उतना ही प्राचीन मानते रहे हैं जितना प्रथम श्रुतस्कन्ध को जो साधारणतः कोई स्वीकार नहीं कर सकेगा। वे सम्पूर्ण आगम शास्त्रों के विलुप्त होने की बात को भी अस्वीकार करते हैं (पृ० ३७६)। और यह भी प्रश्न खड़ा करते हैं कि दूसरी परम्परा के पास फिर कोई सर्वज्ञ या गणधरों या चतुर्दश/दस पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ कोई धर्मग्रन्थ सर्वमान्य है ? यह प्रश्न विचारणीय है।

उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा (वी० नि० सं० १००० के बाद) :

तीर्थंकर महावीर के बाद यथासमय परिस्थितियों के अनुसार आचार-नियमों में परिवर्तन होता गया। शिथिलाचार के साथ ही अन्य धर्मों के आकर्षक आयोजनों और आरतियों के तौर तरीकों को अपनाया जाने लगा। लोक-प्रवाह को दृष्टि में रखते हुए धर्मसंघ को जीवित रखने के लिए धर्म के स्वरूप में समयानुकूल परिवर्तन होता रहा। इस अध्याय में लेखक ने २७वें पट्टधर देवद्धिगण क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल की मूल श्रमण परम्परा के आचार्यों को प्रमुख स्थान देते हुए क्रमबद्ध युगप्रधानाचार्यों का विवरण प्रस्तुत किया है जिसे सामान्य श्रुतधरकाल (१) माना है और २७वें युगप्रधानाचार्य तक के बिवरण को सामान्य श्रुतधरकाल (२) के अन्तर्गत नियोजित किया है।

भ० महावीर के २८वें पट्टधर आचार्य वीरभद्र के समकालीन २९वें युग प्रधानाचार्य श्री हारिल्ल सूरि, भद्रबाहु (द्वितीय)—(वी० नि० सं० १०००-१०४५) और मल्लवादी (वि० की छठी शताब्दी) का मूल्यांकन किया। आचार्य सामन्तभद्र और समन्तभद्र को अभिन्न व्यक्तित्व मानकर उन्हें वि० की ७वीं शताब्दी में रखा है (पृ० ४३३)। इसी क्रम में बट्टकेर (पांचवीं-छठी शती ई०) शिवार्य, सर्वनन्दि और यतिवृषभाचार्य का भी काल निर्णय किया है। २९वें पट्टधर शंकरसेन, ३०वें पट्टधर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तथा आगे के क्रमशः पट्टधर आचार्य वीरसेन, वीरजस, जयसेन, हरिषेण आदि का विवरण दिया है। यही जैनधर्म दक्षिणापथ में किस प्रकार संकटापन्न स्थिति में रहा, इसका भी अच्छा विवेचन किया है (पृ० ४७४)।

तृतीय भाग की विशेषताओं का आकलन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१. दिगम्बर संघ की भट्टारक परम्परा का रोचक और तथ्यपूर्ण इतिहास।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२. माघनन्दि की दूरदर्शिता पर प्रकाश।

३. यापनीय परम्परा पर अभिनव प्रकाश।

४. चोल, चेर, पाण्ड्य, गंग, होयसल, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि राजाओं का जैनधर्म के लिए आश्रयदान।

५. ४७५ वर्षों के तिमिराच्छन्न इतिहास पर नये शोधपूर्ण तथ्यों का आकलन।

६. जैनधर्म संघ पर संक्रान्ति के भयानक बादलों का उद्घाटन।

७. द्रव्य परम्परा का प्रचार-प्रसार और भाव परम्परा की वर्चस्वता के ह्रासीकरण पर प्रकाश।

८. अभिलेखों पर नया विचार।

९. नयी पट्टावलियों की खोज—जैतारण भण्डार से प्राप्त देवद्धिगणि क्षमाश्रमण की पट्टावली का आधार ग्रहण।

१०. चैत्यवासी परम्परा का क्रमबद्ध इतिवृत्त और उसकी शिथिलाचार-वृत्ति पर अभिनव प्रकाश।

११. जैनाचार्य चरितावली और पट्टावली प्रबन्ध संग्रह ग्रन्थों में निहित ऐतिहासिक तथ्यों पर पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता।

इसके बाद लेखक ने हरिभद्रसूरि (वि० सं० ७५७-८२७), अकलंक (ई० ७२०-७८०), अपराजितसूरि (वि० की ८वीं शती), चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि (वी० नि० की १३वीं शती) वप्पभट्टसूरि (वि० सं० ८००-८९५), उद्योतनसूरि (८वीं शती), जिनसेन (वि० की ९वीं शती), वीरसेन (वि० सं० ७३८), शाकटायन (शक सं० ७७२), शीलांकाचार्य, यशोभद्रसूरि, गुणभद्र, स्वयंभू, विद्यानन्द आदि आचार्यों का विवरण देते हुए काष्ठा संघ, माथुर संघ, सांडेरगच्छ, हथूंडीगच्छ, बडगच्छ आदि की उत्पत्ति और उनके समकालीन राजवंशों के योगदान की भी चर्चा की है।

चतुर्थ खण्ड

श्री गजसिंह राठोड़ द्वारा लिखित इतिहास के इस चतुर्थ भाग में वी० नि० सं० १४७६ से २००० तक के इतिहास को समाविष्ट किया गया है। इस

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

काल में जैनधर्म पर अनेक संकट आये राजनीतिक और सांस्कृतिक जिनका शोधपूर्ण ढंग से इस भाग में विवरण दिया गया है। इसी समय ई० सन् ९७७ में गजनवी सुलतान का आक्रमण हुआ। चैत्यवासी परम्परा सशक्त हुई। आचार्य वर्धमानसूरि से लेकर जिनपतिसूरि तक सभी आचार्यों ने ११वीं से १३वीं शताब्दी के बीच चैत्यवासी परम्परा से घनघोर संघर्ष किया। वर्धमानसूरि (वी० नि० की १६वीं शती) के प्रयत्न से चैत्ववासी परम्परा का ह्रास हुआ। उन्होंने दुर्लभराज की सभा में जाकर सूराचार्य और उनके शिष्यों को पराजित किया। और क्रियाद्धारों की शृंखला का सूत्रपात हुआ। जिनेश्वरसूरि और अभयदेवसूरि ने भी यह क्रम जारी रखा। पर अभयदेवसूरि ने कुछ समन्वयात्मक पद्धति का आश्रय लिया। चैत्यवासी परम्परा के आचार्य द्रोणाचार्य ने भी इस पद्धति को स्वीकार किया। बाद में उत्तरकालीन आचार्य जिनबल्लभसूरि, जिनदत्त सूरि, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्रसूरि, कुमारपाल आदि के योगदान पर विशद प्रकाश डाला गया है।

जिनदत्तसूरि से वि० सं० १२०९ में खरतरगच्छ का प्रारम्भ हुआ। चैत्यवासियों को पराजित कर दुर्लभराज का उसे आश्रय मिला। बाद में उपकेशगच्छ, अंचलगच्छ, तपागच्छ, बड़गच्छ आदि का वर्णन लेखक ने अच्छे ढंग से किया है और बताया है कि चैत्यवासी परम्परा द्वारा आविष्कृत अनेक मान्यताओं का प्रभाव सुविहित परम्पराओं पर अनेक प्रकार के क्रियाद्धारों के उपरान्त भी बना रहा। (पृ० ६३३)।

इसके बाद लगभग २०० पृष्ठों में अध्यात्मिक साधक लोंकाशाह की जीवनी और साधना पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

कुल मिलाकर इस खण्ड में निम्नलिखित विशेषतायें द्रष्टव्य हैं—

१. जैनधर्म के विरोध में लिंगायत सम्प्रदाय का उद्भव और जैनों का सामूहिक बध जैसे अत्याचार का प्रारम्भ। फलतः दक्षिण में जैन संख्या का कम हो जाना।

२. चैत्यवासियों का वि० सं० १०८० से ११३० तक अधिक प्रभुत्व और फिर क्रमशः ह्रास।

३. चालुक्कराज बुक्कराय द्वारा जैनों का वैष्णवों और शैवों के साथ समझौता कराकर उनकी रक्षा करना।

४. क्रियोद्धार का प्रारम्भ वि० सं० १०८० से १५३० के बीच और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अनेक गच्छों का उद्भव। उनमें पारस्परिक खण्डन-मण्डन की परम्परा ने भी जन्म लिया।

५. लोंकाशाह द्वारा जैनाचार का उद्धार।

इस प्रकार 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' ग्रन्थ के चारों खण्ड आगमिक परम्परा की पृष्ठभूमि में लिखे गये हैं। लेखन में उन्मुक्त चिन्तन दिखाई देता है। भाषा सरल और प्रभावक है, साम्प्रदायिक कटुता से मुक्त है। लेखकों ने आचार्यश्री के मार्गदर्शन में इतिहास के सामने कतिपय नये आयाम चिन्तन के लिए खोले हैं।

—अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभान, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

अमृत-कण

□ आचार्य श्री हस्ती

- शस्त्र का प्रयोग रक्षण के लिए होना चाहिए, भक्षण के लिए नहीं।
- भवसागर जिससे तरा जाये, उस साधना को तीर्थ कहते हैं।
- मानसिक चंचलता के प्रधान कारण दो हैं—लोभ और अज्ञान।
- नोटों को गिनने के बजाय भगवान् का नाम गिनना श्रेयस्कर है।
- जो खुशी के प्रसंग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुःख में आपा भूलकर विलाप करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों का नहीं रहता।
- मिथ्या विचार, मिथ्या आचार और मिथ्या उच्चार असमाधि के मूल कारण हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org